

ध्वनिकार के पूर्ववर्ती आचार्य : वामन्

डॉ० पूनम राय

प्रवक्ता, सेंट जॉन्स अकादमी, करछना, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

सारांश

साहित्य-शास्त्र में जितनी कृतियाँ उपलब्ध हैं उनमें भरतकृत नाट्यशास्त्र प्राचीनतम है। नाम्ना यद्यपि यह नाट्यशास्त्र सम्बन्धी विषयों का ही ग्रन्थ प्रतीत होता है, किन्तु यह विविध कलाओं का आकार ग्रन्थ है। इतिहास में इस ग्रन्थ को इतना महत्व प्राप्त हुआ कि इसकी महिमा के प्रकाश में सजातीय ग्रन्थों की खद्योतमाला ऐसी निष्प्रभ हो गई कि काल की गति उन्हें सर्वथा विस्मृति के गर्त में धकेल गयी।

कुंजी शब्द: साहित्य-शास्त्र, नाट्यशास्त्र, वामन्।

प्रस्तावना

‘वामन्’ ने भवभूति और माद्य के पद्य उद्धृत किये हैं अतः उन्हें ई० 750 के बाद का माना जाता है क्योंकि ये दोनों कवि लगभग 750 ई० के पहले ही हैं। भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मन के सभाकवि थे, निका समय 725 ई० था। इस प्रकार वामन् के स्थिति काल की ऊपरी सीमा आठवीं शती का प्रथम चरण ठहरता है। आखिरी सीमा आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में आए वामन् के सन्दर्भों से 850 ई० ठहरती है। आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में आए वामन् के सन्दर्भों से 850 ई० ठहरती है आनन्दवर्धन अति उदार आचार्य थे, किन्तु उन्होंने वामन् का नामतः उल्लेख नहीं किया, जब कि भामह का दो बार उल्लेख किया है। उन्होंने दण्डी से भी पर्याप्त सामग्री ली है किन्तु उनका नाम भी नहीं लिया। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आनन्दवर्धन दण्डी और वामन् से अनभिज्ञ हैं। ‘रीति’ शब्द का प्रयोग और वैदर्भ आदि मार्गों के लिए ‘वैदर्भ’ आदि संज्ञाओं का निर्माण संस्कृत काव्य शास्त्र में इदंप्रथमतया वामन् ने ही किया है। भरत से भामह तक न रीति शब्द का उल्लेख था और न उनके लिए वैदर्भी आदि शब्दों का। आनन्दवर्धन वामन् का नाम लिये बिना ही क्यों न लिखें परन्तु जब रीति की बात—

रीतयश्च वैदर्भप्रभृतयः।

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।

इस प्रकार करते हैं तो वे वामन् के ही ऋणी सिद्ध होते हैं। यह तो एक उज्ज्वल प्रमाण है कि रीतियों को दण्डी और भामह से आगे बढ़कर और पाञ्चाली को जोड़ कर तीन संख्या तक वामन् ने ही पहुँचाया है। आनन्दवर्धन लिखते हैं—

एदद ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वम्

अस्फुटितस्फुरितं सत् अशकनुवद्धिः

प्रतिपादयितं वैदर्भी गौडी पाञ्चाली

चेति रीतयः संप्रवर्त्तिताः।

फिर भी वे रीतिप्रवर्तक आचार्य ‘रीतिलक्षणविधायी’ कहते हैं। रीति का लक्षण भी पहले पहल वामन् ने ही किया है। बहुवचन का प्रयोग इस तथ्य का सूचक है कि आनन्दवर्धन वामन् के प्रति अतिशय श्रद्धापूर्ण हैं।

ध्वन्यालोक के प्राचीनतर टीकाकार अभिनवगुप्त के मन में तो कम से कम यह अभिप्राय है कि वामन् आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती है।

आक्षेपालंकार के उल्लेख पर वे वामन् के मत को भी पूर्वपक्ष रूप से स्वीकृत मानते और लिखते हैं—

‘अनुरागवती सन्ध्या’ वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः

भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरिव्य मुमाशयं हृदये

गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोः युक्त्येदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत।

वे आगे यही लिखते हैं कि यह बात उनके परमगुरु भी मानते थे। स्पष्ट ही वामन् आनन्दवर्धन से पुराने हैं। और आनन्दवर्धन उनसे भलीभाँति परिचित हैं। इससे सिद्ध है कि वामन् ई० 850 के बाद के नहीं हैं।

इस प्रकार आचार्य वामन् का आविर्भाव काल सं० 800 और 900 वि० के मध्य जान पड़ता है आचार्य बलदेव उपाध्याय इनका समय सन् 800 ई० (सं० 850 वि०) मानते हैं जो उचित ही है। राजतंरंगिणीकार कल्हण ने वामन् को राजा जयापीड का मंत्री बतलाया है।

मनोरथः शेखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।

बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः।।

आचार्य वामन् रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है। रस के प्रति वामन् का मत बहुत कुछ दण्डी से मिलता-जुलता है। दण्डी एवं वामन् दोनों ने ही अपने-अपने ग्रन्थों में रस-विवेचन के लिए कुछ स्थान दिया है, किन्तु दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर है। जहाँ दण्डी ने अलंकार प्रकरण के अन्तर्गत रस का विवेचन किया है, वहाँ वामन् ने गुण के भीतर वामन् ने गुणों का वर्णन करते हुए रस को उसका एक आवश्यक तत्व बतलाया है एवं कान्ति गुण के अन्तर्गत रस का समावेश किया।

दीप्तरसत्वं कान्तिः।

इन्होंने काव्य के दो धर्म माने हैं, नित्य एवं अनित्य। अलंकार काव्य के अनित्य धर्म है एवं गुण नित्य धर्म। इस प्रकार काव्य के अनित्य धर्म-अलंकार में रस का समावेश न कर, इन्होंने काव्य के नित्य धर्म में रस का अन्तर्भाव दिखाया है। इस प्रकार का स्थान निरूपित कर इन्होंने रस के महत्व को स्वीकार किया है। इनका यह महत्व भामह एवं दण्डी को ही ध्यान में रखकर स्वीकार किया

जा सकता है अन्यथा इनके द्वारा भी रस को उचित प्रतिष्ठा नहीं दी जा सकी है। भामहादि की अपेक्षा इनका दृष्टिकोण अधिक उदार है। समस्त काव्यभेदों में इन्होंने नाटक को श्रेष्ठ माना है—

सन्दभेषु दशरूपकं श्रेयः।

इस प्रकार नाटक को श्रेष्ठ बतलाकर प्रकारान्तर से रस के महत्व को स्वीकार किया है।

नाटक को श्रेष्ठ कहने का यही अर्थ था कि रस की अभिव्यक्ति नाटक से अच्छी तरह से होती है। अतः रस का पूर्ण वैभव नाटक में दिखाई पड़ता है। इस प्रकार का विचार स्पष्टतः रस के प्रति महत्व का सूचक है।

कुल मिलाकर वामन का रस—विवेचन संतोष—प्रद नहीं कहा जा सकता। उनका महत्व इसी दृष्टि से आँका जा सकता है कि इन्होंने रस को अलंकार के फंदे से निकाल कर गुण में लगा दिया।

अतएव विद्वानों ने इन्हें दण्डी से अधिक भरतवादी कहा है। इन्होंने अन्य रसों का उल्लेख न कर मात्र शृंगार का ही वर्णन किया है। इनका कहना है कि जिस रचना में शृंगारादि रसों की दीप्ति हो वहाँ कान्ति गुण होता है। इन्होंने केवल शृंगार का ही उदाहरण देकर अन्य रसों के सम्बन्ध में यह कह कर छुट्टी ली है—

एवंरसान्तरेष्वप्युदाहार्यम्

दीप्तरसत्वं कान्तिः।

दीप्ता रसा शृंगारादयो यस्य च दीप्तरसः।

तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः।।

इनके सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने ठीक कहा है—‘वामन ने काव्य में रस को विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया और उसे रीति के गुणों में से केवल एक गुण — अर्थगुण कान्ति का आधार तत्व माना। इस प्रकार इनके मत से रस रीति का एक अंग मात्र है। रस की दीप्ति रीति की शोभा में योगदान करती है — यही रस की सार्थकता है। अर्थात् रस अंग है और रीति अंगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. काव्य मीमांसा, राजशेखर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्याभवन, वाराणसी, 1964।
2. नाट्यशास्त्र, श्री बाबू लाल शुक्ल, शास्त्री चौखम्बा संस्कृत, सीरीज आफिस; वि०सं० 2029।
3. अभिनव भारती, अभिनवगुप्त, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा; 1963।
4. काव्यालंकार, भामह, बाल मनोरमा सीरीज, मद्रास; 1956।
5. किरार्ताजुनीय, भारवि; चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1952।
6. काव्यालंकार, श्री रामदेव शुक्ल, चौखम्बा—विद्याभवन, वाराणसी; 1967।
7. रस—सिद्धान्त, डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; तृतीय संस्करण; 1974।
8. रस—सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण, आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; 1972।
9. भारतीय साहित्य शास्त्र, पं० बलदेव उपाध्याय, नन्द किशोर एण्ड सन्स, वाराणसी; 1963।
10. काव्य—दर्पण, विद्या वाचस्पति पंडित रामदहिन मिश्र, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना; 1973।
11. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली; 1952।

12. काव्यालंकार (नमिसाधु टीका सहित), रूद्रट, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी; 1966।
13. भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त, प्रो० राजवंश सहाय ‘हीरा’, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी; 1967।
14. काव्यालंकार (नमिसाधु टीका सहित), रूद्रट, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी; 1966।
15. काव्यालंकार सार—संग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग; 1966।
16. काव्य मीमांसा, राजशेखर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्याभवन, वाराणसी, 1964।
17. श्रीवाग्भटाचार्य विरचितः रसरत्न समुच्चयः, पं० श्री धर्मानन्द शर्मणा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना; 1962।